

राष्ट्रवाद के शोर में आकार लेता भारत का नया लोकतंत्र

¹डॉ. पयोद जोशी

शोध-सार

प्रस्तुत शोध पत्र में भारत में राष्ट्रवाद और लोकतंत्र के विकास की पुर्नयात्रा की गई है। इस यात्रा के जरिए भारत के राजनीतिक विकास के संदर्भ में राष्ट्रवाद के संदर्भ में अधिकार और पहचान के मुद्दों की पड़ताल की गई है ताकि लोकतंत्र के स्तर का परिमाण संभव हो सके। प्रस्तुत पत्र में निम्नांकित तर्क मय प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं कि प्रथमतः, 2014 से भारत में राष्ट्रवाद के नाम पर अस्मिता की एक वृहद गोलबंदी कर सारे चुनाव लड़े जा रहे हैं। दूसरा, अधिकार आधारित लोकतंत्र की अवधारणा अब बायोमेट्रिक पहचान की आवश्यकता के बोझ तले दब गई है और अंततः, दलितों और मुस्लिमों के विरुद्ध पहचानवादी हिंसा के नियमितकरण और सामान्यीकरण ने उनकी नागरिकता को और भी अधिक अनिश्चित बना दिया है। प्रस्तुत शोध पत्र में उन कई द्वंदों में से जिन पर भारत में बातचीत जारी है, राष्ट्रवाद और लोकतंत्र के द्वंद को पहचानने का प्रयास किया गया है।

महत्वपूर्ण शब्द- राष्ट्रवाद, लोकतंत्र, विकास, अस्मिता, भूमंडलीकरण

Corresponding author

¹आचार्य, राजनीति शास्त्र, माणिक्य लाल वर्मा राजकीय महाविद्यालय, भीलवाड़ा

प्रस्तावना

भारत में इन दिनों राष्ट्रवाद का बड़ा शोर है। राष्ट्रवाद के नाम पर अस्मिता की एक वृहद गोलबंदी कर सारे चुनाव लड़े जा रहे हैं। ऐसे में विकास के प्रतिरूपों, गैर बराबरी के सवालों और अपने वैयक्तिक अधिकारों और आजादी को लेकर लोकतांत्रिक बहस जनता के बीच नदारद है या जो है भी उसे सत्ता का भय दबाने का प्रयास करता है। यह देखना दिलचस्प है कि 1990 के बाद सारे चुनावों में दिखावी नारा 'विकास' का रहा किन्तु धरातल पर पूरी चुनावी राजनीति अस्मिता के सवालों के इर्द-गिर्द ही घूम रही थी। वस्तुतः भारत एक विशाल और विविधता से

परिपूर्ण एक बहुधार्मिक, बहुजातीय, बहुसांस्कृतिक, बहुक्षेत्रीय समूहों और उनकी पहचानों की जटिल समग्रता है। इनमें से प्रत्येक समूह की अपनी-अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ और प्रेरणाएँ हैं। भारत में चुनाव इन अस्मिताओं और पहचानों के इर्द-गिर्द ही लड़े जाते रहे हैं। राजनीतिक दल मतदाताओं की गोलबंदी इन अस्मिताओं को घेरकर ही करते हैं। किन्तु एक बड़ा बदलाव पिछले कुछ चुनावों में यह हुआ है कि इन अस्मिताओं को राष्ट्रवाद के नाम पर एक बड़े धार्मिक अस्मिता के घेरे में बांधने का प्रयास किया गया है। पहले राजनीति विविधताओं का सम्मान करती थी किन्तु अब विविधताओं को एकरूपता में ढाला जा रहा है। इस प्रक्रिया ने व्यक्ति के लोकतांत्रिक अधिकारों को सीमित कर दिया है। भारत में अस्मिताओं की राजनीति एक लम्बे समय तक व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करती रही किन्तु राष्ट्रवाद के नाम पर जो राजनीति हो रही है, उसने चुनावी पेटर्न को बदल दिया है।

वस्तुतः राष्ट्रवाद एक आधुनिक अवधारणा है जिसका उदय राष्ट्र-राज्य के आगमन के साथ हुआ। इस रूप में इसका इतिहास 200 वर्ष से भी पुराना नहीं है। हैंस कोहन के अनुसार, " राष्ट्रवाद राष्ट्र-राज्य की मांग करता है। राष्ट्र-राज्य का निर्माण राष्ट्रवाद को मजबूत करता है।" (हैंसकोहन, 1945) सांस्कृतिक दृष्टि से राष्ट्र को एक संप्रभु राज्य की भौगोलिक सीमाओं के भीतर एकल संस्कृति, एकल भाषा, एकल जातीयता, एकल नस्ल और समान एतिहासिक विरासत रखने वाले समूह के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस प्रकार से परिभाषित करने का तात्पर्य है कि राष्ट्र बहुल सांस्कृतिकता को नकारता है। इसीलिए जैसा कि आषीष नंदी लिखते हैं, "..... सम्पूर्ण अर्थों में राष्ट्र कभी नहीं बनता। राष्ट्र समरूपता स्थापित करने की कोषिष करता है और इसके विपरीत विविधताओं की ओर से राष्ट्र और उसे संचालित करने वाले अभिजनों को हमेशा किसी न किसी किस्म की चुनौति मिलती रहती है।" (आषीष नंदी, 13-14) एंडरसन इसीलिए राष्ट्रों को ' काल्पनिक समुदाय' मानता है। उसके मत में राष्ट्र एक स्वाभाविक समुदाय की अपेक्षा एक जैसा दिखने की मानसिकता अधिक है। यह मानसिकता शिक्षा, संचार माध्यमों और राजनीतिक सामाजिकरण की प्रक्रिया के द्वारा निर्मित की जाती है। इसलिए राष्ट्र एक गढ़ा गई संकल्पना है (बेनेडिक्ट एंडरसन, 1996)। राष्ट्र को स्वाभाविक समुदाय की अपेक्षा कृत्रिम, निर्मित अथवा आरोपित मानने की परम्परा मार्क्सवादी विचारकों में अधिक हैं। शास्त्रीय मार्क्सवाद राष्ट्र को शासक वर्ग द्वारा निर्मित विचार के रूप में देखता है। शासक वर्ग राष्ट्र के विचार को, वर्गीय चेतना को नेस्नाबूद करने के हथियार के रूप में काम लेता है। वर्गीय एकजुटता के स्थान पर राष्ट्र की एकजुटता को अधिक महत्वपूर्ण रूप में प्रचारित किया जाता है। इससे वर्गीय चेतना टूटती है और सत्ता को चुनौति देने वाले

वर्गीय हितों को राष्ट्र की एकता के नाम पर स्थगित कर दिया जाता है। इस प्रकार राष्ट्र की एकता को आधार बनाकर पूंजीवादी सत्ता कायम रहती है। इसलिए राष्ट्र एक बर्जुआ अवधारणा है।

वर्तमान युग अर्थ का युग है। प्रत्येक देश का विकसित, अविकसित व विकासशील होना, वहाँ की अर्थव्यवस्था पर निर्भर होने लगा है। अर्थतंत्र के इस युग में 'विकास' अधिकांश लोकतांत्रिक सरकारों के चुनाव का मुख्य मुद्दा रहा है। 'विकास' और राजनीति के मध्य एक गहरा संबंध रहा है। इसीलिए समकालीन राजनीतिक एवम् सामाजिक विमर्श में विकास एक महत्वपूर्ण समप्रत्यय है। गत शताब्दी के अंतिम दशक में आरम्भ हुई भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के उपरांत, भारत में भी सम्पन्न हुए चुनावों का मुख्य मुद्दा 'विकास' रहा है। किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न है - 'विकास' किसका और कैसे ? अभी तक 'विकास' के दो मुख्य प्रतिमान सामने आये हैं- प्रथम, उदार पूंजीवादी प्रतिमान तथा द्वितीय समाजवादी मार्क्सवादी प्रतिमान। भारत में आजादी के बाद विकास के मिश्रित प्रतिमान को अपनाया गया। किन्तु नब्बे के दशक तक आते-आते समाजवादी नीतियां गायब होने लगीं। अब उदार पूंजीवाद वाले वैश्वीकरण के प्रतिमान की ओर बढ़ा गया। इसका भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव यह हुआ कि यह एकदलीय प्रभुत्व से ध्रुवीकृत बहुलवादी बहुदलीय व्यवस्था में परिवर्तित होने लगी। बहुदलीय व्यवस्था में बढ़ती राजनीतिक प्रतिस्पर्धा ने अस्मिता को लेकर होने वाले राजनीतिक संघर्षों को और अधिक गहरा किया। राष्ट्रवाद इन्हीं राजनीतिक संघर्षों और विकास की उदार नीतियों की असफलता से उपजा एक जुमला है। एरिक हॉब्सबॉम जैसे मार्क्सवादी विचारक यह मानते हैं कि राष्ट्रवाद पूंजीवाद के विकास का एक खास चरण है। उन्नीसवीं शताब्दी तक राष्ट्रवाद का विचार दिखलाई नहीं देता है। उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय झंडा, राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय गीत जैसे विचार फैशन बन गए। वहीं प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के साथ ऐसे विचारों को प्रचारित किया गया। हॉब्सबॉम के मत में पूंजीवादी समाज में लोगों में सामुदायिक एकजुटता का मिथ्या प्रयास किया जाता है क्योंकि आर्थिक और सामाजिक असमानताओं के कारण उनमें एकजुटता होती नहीं है। इस मिथ्या एकजुटता के लिए ऐतिहासिक निरंतरता और सांस्कृतिक परिषुद्धतावाद का मिथक गढ़ा जाता है। (हॉब्सबॉम, 1989) लेकिन भारत की चुनावी राजनीति में यह दिलचस्प है कि राष्ट्रवाद का नाम लेकर एक ओर स्वदेशी और संरक्षणवाद का नारा लगता है तो दूसरी ओर विकास के नाम पर उदार अर्थव्यवस्था का। यह विरोधाभास कई सवाल खड़े करता है किन्तु इन सवालों को धार्मिक अस्मिता की लड़ाई में जगह ही नहीं मिलती।

दरअसल मुक्तिसंग्राम के दौरान ही 'सम्प्रदाय आधारित राष्ट्रवाद' भी आकार लेने लगा था। यह द्वैध 'राष्ट्रीयता' के आधार पर दो राष्ट्रों का विचार गढ़ रहा। 1920 के दशक में और उसके उपरांत सम्प्रदाय आधारित राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवादियों के 'हीनप्राच्यवाद' के विपरीत प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को लिए हुए भावी स्वतंत्र भारत की कल्पना की। इसका आधार समान रक्त और महान सभ्यता की गर्वित अनुभूति है। (टॉमसपेंथम, 101) आज भी यह सम्प्रदाय आधारित राष्ट्रवाद भारत में चुनावी राजनीति को संचालित कर रहा है और उस शोर में विकास की चर्चा नेपथ्य में चली जाती है।

अमर्त्य सेन रेखांकित करते हैं कि राष्ट्रीय पहचान दो कारकों से सीमित होती है- 1. एक राष्ट्र के भीतर अनेक समुदायों और समूहों की सीमा 2. राष्ट्र की सीमाओं के इतर मानवीय या पहचान का सर्वसमावेशी और वृहद दायरा। भारत में राष्ट्रवाद का शास्त्रीय रूप राष्ट्र की सीमाओं के इतर एक वृहद और सर्वसमावेशी सोच को मजबूती के साथ प्रकट करता है, जैसा कि गांधी, टैगोर, नेहरू और अन्य की रचनाओं में देखने को मिलता है। उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद स्वशासन के अंतर्गत राष्ट्र की एकता को संगठित करने के साथ-साथ वैश्विक स्तर पर मानवीय मूल्यों से युक्त एकता को भी मजबूती से प्रस्तुत कर रहा था। (अमर्त्यसेन, 18-27) भारत में शास्त्रीय राष्ट्रवाद जो मुक्ति संग्राम के दौरान उपनिवेशवाद विरोध के रूप में निर्मित हुआ, समाज की विविधताओं को स्वीकार करते हुए उनके भीतर एकता को भारत की सांस्कृतिक पहचान के रूप में देख रहा था। जहाँ ब्रिटिश सत्ता भारत में अपने शासन को इस तर्क के साथ जायज ठहराने का प्रयास कर रही थी कि यहाँ के समूहों के मध्य पारम्परिक विभाजन और संघर्षों को बाहरी सत्ता द्वारा सुलझाना आवश्यक है, वहीं भारतीय राष्ट्रवादी नेता 'विविधताओं के भीतर एकता' को भारत की सांस्कृतिक विरासत मानते थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि, "अगर ईश्वर चाहता तो सारे देशवासियों को एक ही भाषा बोलने वाला बना सकता था.... भारत की एकता हमेशा से विविधता में एकता के उसूल पर ही निर्भर थी और रहेगी।" (आशिष नंदी, 2005, पृ. 27) वस्तुतः ये नेता अपनी सीमित करने वाली अस्मिताओं के पार जा सकते थे। किन्तु जैसा कि अभिजीत पाठक संकेत करते हैं कि इस व्यापक रूप से साझी भारतीयता को समस्यामूलक भी बना दिया गया। उदाहरण के लिए दलित जातियों को लेकर अम्बेडकर ने प्रश्न उठाए और स्पष्ट कहा कि उनका प्राथमिक शत्रु साम्राज्यवाद नहीं होकर जातिवादी तानाशाही है। (अभिजीत पाठक, 2013, पृ. 102) इस प्रकार जाति और धर्म की विविधता ने भारत में नागरिकों के अधिकारों की मांग को अनेक रंगों में ढाला है। सम्प्रदाय आधारित राष्ट्रवाद और

पूँजीवादी राष्ट्रवाद इस विविधता को निगल जाता है जिससे लोकतांत्रिक ढांचा और नागरिक अधिकार दोनों ही खतरे में पड़ जाते हैं।

राष्ट्रवाद और उदार पूँजीवाद सिद्धांततः एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं क्योंकि जहाँ राष्ट्रवाद स्वदेशी अर्थव्यवस्था को मजबूत करने की बात करता है, वहीं उदार पूँजीवाद स्वदेशीकरण से भूमंडलीकरण की ओर अग्रसर होने के विचार पर आधारित है। राष्ट्रवाद जहाँ राज्य की एकता और सुरक्षा के नाम पर व्यक्ति के लोकतांत्रिक अधिकारों को चुनौति प्रदान करता है, वहीं उदारवाद व्यक्ति की चयन की आजादी संरक्षित करना चाहता है। ऐसे में राष्ट्रवाद के शोर में विकास का नारा कहीं भटका हुआ लगता है तो इन दोनों विचारों का बैमेल गठजोड़ मनुष्य के मूल अधिकारों के साथ समझौता करता नजर आता है। गत शताब्दी के अंतिक दशक में सोवियत संघ के टूटन के बाद विचारधाराओं के अंत तथा भूमंडलीकरण के दौर में 'पूँजीवादी निर्विकल्पता' की जो बात अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में की जाने लगी थी, वही बात भारत की राजनीति में भी उठने लगी। मध्यममार्गी कांग्रेस के पूँजीवादी रुझान तथा दक्षिणपंथी भारतीय जनता पार्टी की आर्थिक नीतियों के बीच कोई आधारभूत अंतर नजर नहीं आया। ऐसे में 'विचारधाराओं' के अंत तथा 'पूँजीवादी निर्विकल्पता' के विचार को बल मिला। दोनों ही राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक दलों (कांग्रेस तथा भारतीय जनता पार्टी) के भीतर यह सोच पैदा हो गई है कि परेशान जनता आखिर जाएगी कहाँ? कांग्रेस से परेशान जनता भाजपा को और भाजपा से परेशान होकर वह कांग्रेस को ही चुनेगी। किन्तु कांग्रेस के बाद भाजपा और भाजपा के बाद कांग्रेस को ही चुनने की मजबूरी राजनीतिक विकल्प नहीं है। लगता है कि वर्तमान में भारत की राजनीति, वैकल्पिक राजनीति के संकट से जूझ रही है। विकल्पहीनता की यह स्थिति यथास्थितिवाद की द्यौतक है। यदि जनता दो में से एक विकल्प को चुनने के लिए मजबूर हो जाए तो यह संसदीय लोकतंत्र के लिए शुभ संकेत नहीं है। विशेषकर भारत जैसे देश में जहाँ अनेक सांस्कृतिक समूहों का निवास है, हितों के अनेक केन्द्रों के बीच राजनीति संचालित होती है। यदि यहाँ विकल्पहीनता अथवा विकल्पों की सीमित होने से राजनीति जूझती है तो यह माना जाना चाहिए कि हमारी राजनीतिक संस्कृति में कुछ प्रक्रियात्मक खामियाँ हैं।

भूमंडलीकृत अर्थव्यवस्था से उपजे गैर बराबरी का सवाल, फासीवाद और वंशवाद की राजनीति का सवाल, साम्प्रदायिक राजनीति का सवाल तथा सत्ता, सम्पत्ति और शैतानों के गठजोड़ का सवाल राजनीतिक रूप से

महत्वपूर्ण तो है किन्तु अस्मिताओं के घेरे में घिरे मतदाता को ये सवाल इतने परेशान नहीं करते जितना अपने समूह से जुड़ी अस्मिता का सवाल परेशान करता है। सत्ता, सम्पत्ति और शैतानों के गठजोड से जिस राजनीतिक संस्कृति का जन्म हुआ है, वह मतदाता को कभी भी अस्मिता के इस घेरे को तोडकर बाहर नहीं निकलने देती। वह इस घेरे से बाहर निकले तब तो विकास के प्रतिरूपों, गैर बराबरी के सवालों और अपने वैयक्तिक अधिकारों और आजादी को लेकर सोचेगा। अब तो राष्ट्रवाद के नाम पर अस्मिता की एक वृहद गोलबंदी कर दी गई है, जहाँ इन सवालों पर राजनीतिक बहस एक मतदाता के लिए संभव नहीं है।

ऐसा भी नहीं है कि विकास के नाम पर जारी नीतियों के अपने ऊपर पडने वाले प्रभावों के बारे में मतदाता सोचता ही नहीं है। वह परेशान होकर सत्तारूढ दल को हराने के लिए मत तो देता है किन्तु उसके सामने प्रश्न यह है कि वह चुने किसे ? नीतियों के स्तर पर सब एक सरीखे लगते हैं। कांग्रेस के बाद भाजपा और भाजपा के बाद कांग्रेस को ही चुनने की मजबूरी राजनीतिक विकल्प नहीं है। मजबूत विकल्प का अभाव उसे पुनः अपने अस्मिता के घेरे में पहुँचा देता है। ऐसे में विकास और राष्ट्रवाद लुभावने चुनावी नारे लगने लगते हैं। जमीनी स्तर पर तो राजनीति अस्मिता के संकटों को हवा दे रही है। प्रश्न यह है कि अस्मिता के संकटों को हवा देकर कैसे राजनीति राष्ट्र की एकता को बचा पाएगी और सर्वसमावेशी विकास के जरिए कैसे हाशिए पर खडे इंसान की वैयक्तिक अस्मिता और पहचान को बचा पाएगी ? दिल्ली और पंजाब में आम आदमी पार्टी की विजय जरूर इस ओर संकेत करती है कि भारत का मतदाता एक अलग तरह की राजनीति को लेकर छटपटा रहा है किन्तु यह उदाहरण अभी शैशावस्था में ही है। दक्षिण के अनेक राज्यों में जहाँ भारतीय जनता पार्टी और कांग्रेस से इतर जो क्षेत्रिय दल सत्ता में हैं, वे क्षेत्रिय अस्मिताओं के सहारे ही सत्ता में है।

निष्कर्ष

दरअसल हर समाज विराधों का ही सामंजस्य होता है। वर्चस्व और प्रतिरोध समाज के भीतरी द्वंद के दो चरम बिन्दु हैं। किन्तु वर्चस्व और प्रतिरोध दोनों ही जब हिंसात्मक हो जाए तो समझ जाना चाहिए कि समाज कुछ विनाशकारी खतरों का सामना कर रहा है। वस्तुतः समाज अत्यधिक तीव्र गति से परिवर्तित हो रहा है। आधुनिकता 'भूमंडलीकरण' का बाना पहने नवीन रूप में हमारे समक्ष है। माल्थस और एडम स्मिथ जैसे 18-19वीं सदी के विचारकों की इस प्रस्थापना को भूमंडलीकरण ने मजबूती प्रदान की है कि आर्थिक समानता की चिरन्तन कामना को पूरा करना असम्भव है। इसलिए समतामूलक समाज का निर्माण करने के स्थान पर

भूमंडलीकरण ने पूरी दुनिया में वर्चस्ववादी संस्कृति का निर्माण किया है। इस वर्चस्ववादी संस्कृति ने दमन की नवीन संरचनाएं निर्मित की हैं, जिनके सहारे दुनिया को सोपानों में बांट दिया गया है और आबादी के एक बड़े हिस्से को हाशिए पर ला दिया गया है। ऐसे में प्रश्न व्यक्ति की वास्तविक आजादी का है और इससे भी बढ़कर प्रश्न मनुष्य के मनुष्य बने रहने का है। इसके लिए हमारी चुनावी राजनीति की संस्कृति में बदलाव की जरूरत है।

संदर्भ सूची

1. कोहन, हैंस , द आइडियाऑफनेषनलिज्म, न्यूयार्क: मैकमिलन, 1945
2. नंदी ,आशिष , राष्ट्रवाद बनाम देशभक्ति , अनुवाद-अभय कुमार दुबे, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2005
3. एंडरसन, बेनेडिक्ट, लीनियेजऑफ द एबसॉल्यूटिस्टस्टेट, लंदन, बर्सो, 1996
4. हॉब्सबॉम,ई. जे. नेशनस एंड नेशनलिज्म सिंस 1789, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटीप्रेस, 1989
5. टॉमस पैथम,राजनीतिक सिद्धांत एवं सामाजिक पुनर्निमाण, अनुवाद-बृजभूषण पालीवाल, जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2008
6. सेन अमर्त्य, ऑन इनटरप्रेटिंग इंडियाज पास्ट , संपादन-सुगाता बॉस और आयषा जलाल, नेशनलिज्म, डेमोक्रेसी एंड डवलपमेंट: स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया, नई दिल्ली: ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2015
7. पाठक अभिजीत, आधुनिकता, भूमंडलीकरण और अस्मिता, दिल्ली: आकार बुक्स, 2013